लोक का अंतः संसार

जय प्रकाश

सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर

लोक का अंतः संसार

जय प्रकाश

ISBN

©

प्रकाशक : **सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर**
नेहरू मार्ग (दाऊजी रोड) बीकानेर

मूल्य :
संस्करण : 2015 ई.
आवरण चित्र :
लेजर टाईप सेटिंग : जुगल किशोर सेवग, बीकानेर
मुद्रक : सत्यम् शिवम् सुन्दरम्

₹

समर्पण

प्रस्तावना

'लोक का अंतःसंसार', 'लोक-संस्कृति के विषय में लिखी गई टिप्पणियों का संकलन है। इसमें लोक को लेकर सिद्धान्त-निरूपण का प्रयत्न नहीं है, न ही लोक के मौजूदा रूपाकार को समाजशास्त्रीय या नृजातिशास्त्रीय विवरणों में प्रस्तुत करने का व्यवस्थित उद्यम है। दरअसल लोक के अंतःजीवन में घटित हो रहे परिवर्तनों को जानने-समझने की आधी-अधूरी कोशिश में ये टिप्पणियां लिखी गई हैं। इसलिये यह पुस्तक सुनियोजित और विधिवत अध्ययन का कोई दावा नहीं करती। बल्कि इसके विपरीत, इन टिप्पणियों को संकलित करने के पीछे आग्रह यही है कि इन्हें एक साधारण प्रेक्षक की जिज्ञासाओं और अनुभवों के साक्ष्य के रूप में पढ़ा जाए।

लोक-संस्कृति के बारे में अकसर कुछ सामान्यीकरणों और चालू धारणाओं के सहारे विकसित हुई समझ बौद्धिक हलकों में सक्रिय रहती है। एक तो यही कि 'लोक' और 'आधुनिक' में परस्पर अन्तर्विरोध है, क्योंकि लोक बीते हुए समय को और आधुनिक मौजूदा या भविष्य के दौर को इंगित करता है। इस समझ के पीछे नृजातिविज्ञान की वह बुनियादी प्रतिज्ञा है, जो लोक के प्रति एक तरह के औपनिवेशिक दृष्टिकोण से उपजी है कि लोक का जीवन पिछड़े हुए आक्-आधुनिक समाज का जीवन है। इसलिये उसकी संस्कृति भी पिछड़े हुए कृषि-समाज के स्थिर और प्रायः जड़ीभूत ढांचे में क़ैद हो गई है।

साफ़ तौर पर यह धारणा लोक के नैसर्गिक विकास और उसकी आन्तरिक गतिशीलता की अनदेखी करती है। लोक वस्तुतः निरन्तर विकासशील समुदाय है जिसकी आन्तरिक गतिशीलता श्रम की सर्जनात्मकता से तय होती है। यह सामुदायिक जीवन जीते श्रमजीवी समाज की संस्कृति है। मानवीय श्रम के विरुद्ध खड़ी तकनीकी कितनी ही ताक़तवर क्यों न हो जाए, वह श्रम की सामाजिक आवश्यकता को समाप्त नहीं कर सकती। वह लोक-संस्कृति को बदल तो सकती है, मिटा नहीं सकती।

लोक की उत्तरजीविता पर अटूट विश्वास के साथ लिखी गई इन टिप्पणियों में उसके भविष्य की तलाश की दिशा में बस एक क़दम बढ़ाने की कोशिश-भर है। इससे अधिक का दावा करना असंगत होगा।

जयप्रकाश

अनन्त चतुर्दशी
27 सितम्बर, 2015

अनुक्रम

❑ परिदृश्य

साक्ष्य और साक्षात्कार

अवकाश का लोक-सन्दर्भ

स्मृति की सर्जनात्मकता

सृजन और कर्म का द्वैत

लोक का उत्तर-जीवन

क्या मास कल्चर भविष्य की लोक-संस्कृति है?

आधुनिक समाज में लोक-सृजन

आधुनिक लोक की पहचान

अपसंस्कृति का कर्मकाण्ड और आधुनिकता के द्विज

❑ परिवेश

लोक में अस्मिता-विमर्श

कुँवर अछरिया : कथाभिप्राय की खोज

श्रम-जीवन की पहली स्मृति

नाचा और लोक-जागरण

लोक-सर्जनात्मकता के पक्ष में

मदन निषाद : प्रतिवाद का रंग-जीवन

❑ परिप्रेक्ष्य

विसंस्कृतिकरण के दौर में

कामनाओं के स्वर्ग की सचाई

आने वाले कल की संस्कृति

धार्मिक अस्मिता और लोक-जीवन

।। परिदृश्य ।।

साक्ष्य और साक्षात्कार

(भाषिक सृजन की लोक-प्रकृति और आधुनिक प्रवृत्ति)

भाषा के इतिहास में पता नहीं किस क्षण शब्द को सृजन की शक्ति और उत्तेजना प्राप्त हुई होगी—सम्भव है, अपने जन्म के साथ ही से सम्पन्न रहा हो—लेकिन यह सृष्टि सही मायने में उसी क्षण सम्भव हुई है, जिस क्षण से उसे शब्द में समा जाने की विकलता महसूस हुई होगी। इसमें क्या सन्देह है कि शब्द सृष्टि के होने के मनुष्य के अनुभव में चरितार्थ करता है : शब्द 'भव' का 'अनुभव' निर्मित करता है। इस संसार में किसी का होना भर काफी नहीं है, महत्वपूर्ण यह है कि 'होना' किस प्रकार 'होने के अनुभव' में बदल पाता है। बदलने की इस प्रक्रिया में जिस बिन्दु पर संवेदना की कोई लपट अपनी आंच से किसी को एक खास किस्म की मानसिक अवस्था में तपाती, पिघलाती या झुलसा देती है, वहीं सर्जनात्मक अनुभव जन्म लेता है। फिर अगले ही क्षण वह अभिव्यक्ति की एक ऐसी छटपटाहट को लौ लगा देती है जिसमें कोई अन्ततः अस्तित्व के अंधकार में अपने जीने की अर्थवत्ता या अपनी सामाजिकता का सत्य ढूंढ़ पाने लायक उजाला हासिल कर लेता है। आदिम मनुष्य ने गुफा-चित्रों में आखिर अपने संसार को ही तो उकेरा था, जो उसके अनुभव में, उसके जीने की प्रक्रिया में एक विक्षेप की तरह प्रकट हुआ था और जिसने उसे संघर्ष के जरिए सामाजिकता अर्जित करने का विकल्प सुझाया था। उसके सर्जनात्मक अनुभव का संसार उन पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों से अलग नहीं था, जिनके बीच अपने आदिम सम्बन्धों को वह मानवीय अर्थसंगति देता था। उसका जीना दरअसल प्रकृति को सामाजिक बनाने की मनुष्य-सुलभ इच्छा का कर्म की सरल भाषा में अनुवाद था। यह एक ऐसा उद्यम था जो एक स्तर पर प्रकृति को जानने और एक भिन्न स्तर पर उस जाने हुए को कलात्मक अनुभव के भीतर स्वायत्त कर देने के लिए उसे प्रेरित कर रहा था। गुफाओं के भीतर अकेरी उन रेखाओं के पीछे-पीछे मानों मनुष्य के जीवन की रेखाएं दौड़ रही थी और उनसे बनी आकृतियां वस्तुतः उसके अनुभव-लोक से उतरी आकृतियां ही थी। इस तरह मनुष्य अपने जीने के संघर्ष में अपनी सृष्टि रचने का सुख ढूंढ़ रहा था। यूं भी कहा जा सकता है कि सृजन के आनन्द में वह जीवन की कठोरता और उसकी कसैली स्मृतियों को घुला देने का प्रयत्न करता था।

कालान्तर में जब भाषा का विकास हुआ तो मनुष्य अभिव्यक्ति का वह सबसे उपयुक्त माध्यम साबित हुआ। संकेतों, मुद्राओं, भंगिमाओं और प्रस्तर-रेखाओं में

व्यंजित भाव तब भाषा में-ध्वनि-संकेतों की एक अर्थपूर्ण व्यवस्था में अन्तरित हो गए। कलात्मक सौन्दर्य की ऊर्जा से फिर शब्दों में एक दिन अपूर्व स्पंदन उत्पन्न हुआ। भाषिक सृजन की क्षमता से सम्पन्न मनुष्य के भीतर प्रकृति के विस्तृत रहस्य लोक में रागात्मकता के विकीर्ण स्तोत्रों की खोज तथा उसके साथ अपने सम्बन्धों की पहचान के प्रति उत्कण्ठा तीव्र हो उठी। इस उत्कण्ठा ने जड़ प्रकृति को जीवंत बना दिया और स्वयं मनुष्य भाषा में सृष्टि रचने की प्रतिभा के स्पर्श से 'उत्कण्ठित मनुष्य' बन गया। वह अन्तहीन जिज्ञासाओं को अपनी भाषिक सृष्टि में संजोने और इस उपक्रम में अपने अस्तित्व का अर्थ ढूंढ़ने लगा। वैदिक ऋचाएं इस उत्कण्ठित मनुष्य के अनुभव-संसार के भीतर उभरते बिंबों में उसके अन्दरूनी उद्वेगों-विकलता और विस्मय-को ही तो मूर्त्त करती है। सदियों से रचे हुए लोकगीतों में प्रकृति का शक्ति-विलास, और साथ ही सहज उल्लास भी, मूर्त्त होता रहा है और उत्कण्ठित मनुष्य की आंखों में विस्मय और विकलता की अनगिन छवियों में बार-बार प्रकट हुआ है। स्मृति के अक्षय कोष में जाने कितनी ऐसी भाषिक रचनाएं-लोक-गीत, कथा, गाथा, उक्ति और पहेलियां आदि-संचित हुई होंगी और जाने कितनी ही रचनाएं विस्मृति के अंधकार में छूट गई होगी—इसे जान पाना अब सम्भव नहीं है। ये लोकवार्त्ताएं भाषिक सृजन की अमूल्य सम्पदा है। इनमें प्राक्-आधुनिक अवस्था तक का मानवीय अनुभव संचित है। जहाँ कहीं लोकसंस्कृति का अस्तित्व शेष है—चाहे जीवंत अथवा अवशिष्ट रूप में—वहाँ लोकवार्त्ताओं में जीवन अब भी अपने आत्मीय राग के साथ अन्तर्ध्वनित हो रहा है।

लेकिन दूसरी ओर आधुनिकता के दुर्निवार अनुभव है जिनका सामना करते हुए पिछली कुछ शताब्दियों से मानव-जाति इतिहास के संघर्ष-भरे दौर में चली आई है। यहाँ एक भिन्न अनुभव-संसार है जिसमें दाखिल होकर मनुष्य अपने को एकबारगी अजनबी पाता है। वह अनुभव करता है कि लोकवार्त्ताओं का स्वयंपूर्ण संसार यहाँ आकर अपने आप उलट जाता है। सृष्टि के अबूझ विस्तार में गुम हो चुका अहम् अकस्मात् जाग उठता है और मानवकेन्द्रिकता के नवजागरणमूलक मिथक के घेरे में इसका आत्मबोध आहार ग्रहण करने लगता है। ज्ञान के माध्यम से शक्ति की उपासना—नए मानवाद का यह नया लक्ष्य है। इससे प्रेरित होकर ज्ञानोद्धत मनुष्य प्रकृति के रहस्यों को उखाड़ फेंकने में जुट जाता है।

प्रकृति, जो कभी लोक-अनुभव में केन्द्र में थी, आधुनिक जीवन को हाशिए पर चली जाती है और उसकी जगह वह समाज आ जाता है जो आधुनिकताजन्य संस्थाओं और स्वच्छंदता को तर्कबाद में ढला यथार्थ आत्मसात् कर लेता है; विस्मय और आकुलता की जगह तार्किक तुष्टि और ऐन्द्रिक अन्तुष्टि ले लेती है; सामुदायिकता को निस्संग-व्यक्तिवाद अपदस्थ कर देता है; मशीनों के बीच मनुष्यत्व के मायने ढूंढ़ता व्यक्ति भोगवाद की मरीचिका के पीछे अतृप्त भागता जाता

है। सहजता मिट जाती है, सौन्दर्य-दृष्टि बदल जाती है, शब्द के साथ मनुष्य एक नए रिश्ते की खोज करने लगता है।

सामाजिक स्थितियों में बदलाव का असर स्वभावतः साहित्य की प्रकृति पर भी हुआ है। दरअसल उसका माध्यम और प्रयोजन ही बदल गया है। लोक-संस्कृति में भाषिक अभिव्यक्ति प्रायः वाचिक परम्परा में ही सम्पन्न हुई है। वह मुख्यतः सामुदायिक आनन्द में भागीदारी के उद्देश्य से प्रेरित होती रही है। आधुनिक साहित्य, इसके विपरीत वैयक्तिक सौन्दर्य-लाभ और एकान्त-वाचन की मांग करता है, क्योंकि वह मुद्रित पाठ में फलीभूत होता है। माध्यम की प्रकृति और प्रयोजन बदल जाने से उसके गुणधर्म और सरोकारों में आए परिवर्तन को सहज ही लक्ष्य किया जा सकता है।

भाषिक सृजन की जो परम्परा कभी वाचिक अभिव्यक्ति बनकर लोकमुख से फूटी थी, इतिहास के किसी उत्तेजक क्षण में सहसा रूपान्तरित होकर जब लिखित शैली में ढली तो जैसे उसने बदलते हुए समय को अपनाने की मजबूरी में अपने सामुदायिक समय को स्थगति कर दिया। लोक-अनुभव भी अपने सृजन के निपट अन्तरंग क्षणों में मूलतः व्यक्तिगत अनुभव ही है, किन्तु सम्प्रेषण की प्रक्रिया में वह सामुदायिकचित्त के स्पंदन के साथ आनुनादित होने लगता है और एक सर्जक के निजी समय को अतिक्रमित कर स्मृति और संवेदन की लहरों के साथ लोक-समय में बहने लगता है। इसके विपरीत आधुनिक अनुभव अपना लोक-समय निर्मित नहीं कर पाते। यही वजह है कि समाज के प्रत्यक्ष सघर्षों का चित्रण करते हुए भी उपन्यास स्वयं उस मध्यवर्ग का लोकमान्य साहित्य नहीं बन सका, जिसकी आकांक्षाओं को व्यक्त करने के लिए वह प्रतिश्रुत था; जबकि औद्योगिक संस्कृति तथा औपचारिक शिक्षा के रूप में उपन्यास और मध्यवर्ग दोनों को अपने अस्तित्व का समान स्तोत्र और सन्दर्भ मिला हुआ है। लिखित या मुद्रित पाठ की ज्ञानेदयजनित परम्परा में साहित्य क्रमशः एक अल्पसंख्यक साक्षर समूह में सिमट कर रह गया। वह अक्षर में अर्थ के सृजन के लिए बाध्य था और उसकी उत्तरजीविता के लिए स्मृति और वचन की अनिवार्यता समाप्त हो चली थी। वह स्मृति से जीवत्व तो ग्रहण करता था किन्तु अपने अस्तित्व मात्र को स्मृति में स्थानांतरित नहीं कर पाया, क्योंकि मुद्रण की तकनीक ने इसकी आवश्यकता ही खत्म कर दी थी। इसके बरअक्स लोकसाहित्य अक्षर पर नहीं, पूरी तरह स्मृति पर आधारित होता है। स्मृति के द्वारा वह लोक-कण्ठ में संसार को-उसके रंगों, छवियों, मुद्राओं और उस में घटित हो रहे परिवर्तनों के साथ-उतार देता है।

आधुनिक परिवेश में सृजनात्मक शब्द अपना एक विशिष्ट सामाजिक समय रचते हैं जिसके पोर-पोर में यथार्थ समाया होता है। यह स्वच्छंद और यथार्थ की दीवारों को फलांगते हुए भागता समय है। लोक-समय की समग्रता और निरन्तरता

इसके चलते टूट जाती है। समाज के भीतर उभरे जिन अन्तर्विरोधों को लोक-समय अपनी अखंड तारतम्यता में समाहित कर लेता था, वे मुखर हो उठते हैं और ऐसा विग्रह उत्पन्न करते हैं जो हमारी तथाकथित आधुनिकता की चारित्रिक पहचान बन जाता है। मिथकों और गाथाओं में बहते लोक-समय को बिलकुल ही नए धरातल पर उतार कर इतिहासबद्ध कर देने वाला जीवन-बोध यहाँ अपने को पुनर्संयोजित करता है। यथार्थेतर की स्मृतियों का बोझ उतारकर वह आखिरकार यथार्थ को अपना अनिवार्य उपजीव्य करार देता है। इसलिए आधुनिक साहित्य इतिहास में जीने के मानवीय अनुभव का साहित्य है जिसका केन्द्रवर्ती सन्दर्भ, अनायास नहीं है संघटन में एक तरफ लोक-परम्परा की स्वच्छंद चेतना का निषेध करता था तो दूसरी तरफ उसने महाकाव्यात्मक लाक्षणिकता वाले शास्त्रवादी ढांचे को ध्वस्त कर दिया। इतनी ही नहीं, उसने आधुनिक सर्जनात्मकता के भीतर पनप रही स्वच्छन्दतावादी आकांक्षा को भी धीरे-धीरे खत्म कर दिया और स्वयं एक नव-शास्त्रवादी परिपाटी में परिणत हो गया। यथार्थवाद दरअसल पुराने शास्त्रवाद का आधुनिक संस्करण है। यथार्थवाद के रूप में ज्ञानोदयी साहित्यबोध एक ऐसी पद्धति में ढल गया जो प्रत्यक्ष घटना-संसार को रीति-रूढ़ तरीके से 'वर्णन' और 'व्याख्या' के सुचारू तर्कवाद में समेट लेता है और सर्जनात्मक कल्पना को नितांत टेम्पोरेल स्तर पर रचने-गढ़ने के लिए लगभग बाध्य कर देता है। आधुनिक रचनाशीलता पर यथार्थवादी पद्धति का दबाव इतना गहरा है कि कविता भी उसकी बोध-प्रक्रिया से नियन्त्रित और अनुशासित होने लगती है जबकि बुनियादी तौर पर कविता भी उसकी बोध-प्रक्रिया से नियन्त्रित और अनुशासित होने लगती है जबकि बुनियादी तौर पर कविता की पद्धति यथार्थवाद को न सिर्फ भिन्न बल्कि उसका प्रायः विलोम है; यथार्थवाद तो आधुनिक कथा-साहित्य की रचना-पद्धति है जिसकी घुसपैठ से कविता के अपेक्षाकृत स्वायत्त प्रदेश में अनुभव-प्रत्यक्ष का वर्चस्व कायम हो उठता है और सर्जनात्मक कल्पना के पंख टूट जाते हैं। कहने की जरूरत नहीं है कि प्रायः हर स्तर पर यथार्थवाद साहित्य-बोध का अनुकूल (कंडिशनिंग) करता है।

साहित्य की वाचिक एवं लोक-परम्परा इस तरह के अनुकूलन का शिकार नहीं होती। वह यथार्थ की रूढ़ियों में सिमट रहने से हमेंशा इंकार करती रही है। प्रतिमान समझने वाले आधुनिक साहित्याचरण की तरह यथार्थ को स्वायत्त करने के लिए वह बजाए वह एक स्तर पर अन्तर्दृष्टि (इन्ट्यूशन) तथा कोरे ज्ञान के बजाए अनुभव के द्वारा सत्य की परख करती है। अपनी समस्त ज्ञानेंद्रियों को मुक्त रख कर लोक अपने अनुभव-क्षेत्र में उन्हें संचरित करता है और इस प्रक्रिया में अर्जित यथार्थ को उस रहस्य की संगति में रख देता है जो उसे निरन्तर लुभाता रहता है और उससे महज इसलिए मुंह नहीं मोड़ लेता कि ज्ञानेंद्रियां उसे सत्यापित नहीं करती। लोक का अनुभव नितांत ऐन्द्रिक नहीं बल्कि कहीं इंद्रियेतर (इन्ट्यूटिव) भी होता है; वह

लौकिक के वृत्त में केन्द्रित रह कर अति-लौकिक की फुनगी छूने का भी प्रयत्न करता है। लोक जीवन कुछ विश्वासों, मान्यताओं और पूर्वग्रहों की एक ऐसी समग्र व्यवस्था में, जिसमें मनुष्य सृष्टि का अंग होता है, मनुष्य के अपने अस्तित्व-बोध को समाहित कर देता है। लोकजीवन में मनुष्यता सदैव नागरिकता से ऊपर होती है। इस दृष्टि से लोक साहित्य में एक व्यापक अर्थ में मनुष्यता चरितार्थ होती है जबकि आधुनिक साहित्य धर्म, वर्ण, जाति और सम्प्रदाय के अन्तर्विरोधों से घिरे समाज में नागरिक होने के अनुभव का सृजन करता है। नागरिकता, कहने की जरूरत हनी कि संविधान, लोकतन्त्र, राष्ट्रीय चेतना और जनसंचार के आधुनिक सांचे में ढला यथार्थ है। हमारे समाज में साहित्य नागरिकता के रास्ते से गुजरते हुए मनुष्यता की खोज करने के लिए विवश है। शायद इसी विवशता के तहत वह जीपवन के बाह्य संघर्ष में फैले विवरण तक सीमित रहता है। किन्तु लोक-साहित्य एक गहरे स्तर पर आंतरिक सामंजस्य के बीच मानवीय रागात्मकता को अपनी नैसर्गिक अन्तर्दृष्टि से पाने का यत्न करता है। लोक-साहित्य की नैसर्गिक अन्तर्दृष्टि का स्थान आधुनिक साहित्य में कोई विचार-दर्शन या मतवाद ले लेता है। सभ्यता की जटिल बनावट और बढते सामाजिक विग्रह के बीच भटकती अन्तरात्मा की बेचैन पीड़ा नए साहित्य का मूल स्वर बन जाती है, जबकि लोक-साहित्य उमंग-अवसाद की भाव-तरंगों के सन्तुलन का साहित्य है।

लोकवार्त्ता भाषा में जीवन को स्वायत्त करने का ऐसा उपक्रम है जिसमे सामुदायिक अनुभव के दायरे के भीतर मनुष्य अपनी सृष्टि का, जिसमें वह रहता है, साक्षात्कार करता है। अपेक्षाकृत कम परिवर्तनशील यथार्थ के भीतर घटित हो रहे समय को एक तरह के समग्रवाची मुहावरे में वह आत्मसात् करता है और उसकी पुनरावृत्तियों में परिवर्तन का बोध प्राप्त करता है। आधुनिक साहित्य का पाठक भागते समय की त्वरित कौंध में अपने खण्डित जीवनानुभवों को पहचान पाने की कोशिश करता है और परिवर्तन की मृगतृष्णा में छली गई चेतना को बार-बार साक्षी बनाता है; इस रूप में साहित्य अनुभव खण्डों का साक्ष्य है, न कि घटित हो रही सृष्टि का साक्षात्कार-जैसा कि लोक-साहित्य हुआ करता है। जाहिर है, साक्षात्कार एक गतिमान प्रक्रिया है जबकि साक्ष्य उस प्रक्रिया के क्रमिक प्रतिफलन होते हैं। आधुनिक साहित्य अपने समाज को, और अपने सामाजिकों को, अनुभव के प्रतिफल वह पहुँचाता है (जहाँ कुछ बने-बनाए निष्कर्ष यथार्थ को ढंक लेते हैं) और पुनर्पाठ में वह प्रायः सुनिश्चित अर्थ के इर्द-गिर्द अपने को मुक्त करता है। किन्तु लोकवार्ता में अनुभव अपनी पुनर्प्रस्तुति में बार-बार और नए सिरे से साक्षात्कार के लिए अवतरित होता है। हर बार इस प्रक्रिया में एक नई अर्थच्छटा उत्पन्न होती है। इस अर्थ में लोकवार्ता, अनुभव का पुनराविष्कार है।

भाषिक सृजन के लोक एवं आधुनिक रूपों में यह महत्वपूर्ण अन्तर है। यह

आधुनिक मानस में एक सांस्कृतिक अन्तराल की उपस्थिति को सूचित करता है—एक तरफ सामयिक और समयातीत का भेद न कर सकने वाली पारम्पारिक संस्कृति है जो सृजन की समूची प्रक्रिया के दौरान निरन्तर अपने सत्य का 'साक्षात्कार' करती चलती है; दूसरी तरफ समसामयिकता के भीतर अनुभव की आकृतियां ढूंढ़ती और उन्हें अपने जीवन का 'साक्ष्य' मानकर सहेजती आधुनिकता है जो सत्य को खण्डित जानकर प्रयोगसिद्ध (इंपिरिकल) यथार्थ के रूप में पकड़ती है। दोनों के बीच मानवीय अनुभव का वह धरातल है जहाँ खड़े होने पर परम्परा पीठ के पीछे और आधुनिकता आंखों के आगे की ओर दिखाई देता है। यहाँ एक सच्चे अन्तर्द्वंद या जीवंत द्विविधा की सम्भावना हो सकती थी जिसके सर्जनात्मक रूपाकारों में बीसवीं सदी के मौलिक सरोकार और नैतिक प्रश्नाकुलता समाहित होती। लेकिन इसे खारिज कर दुविधाहीन और निश्चिंत भाव से मानव-जाति अगली सदी में दाखिल हो रही है। यह कितना विचित्र जान पड़ता है कि लोक जीवन से आधुनिक संस्कृति में संक्रमण-जो सम्भवतः बीसवीं सदी की सबसे महत्वपूर्ण घटना है—का साक्ष्य आधुनिक साहित्य में नहीं मिलता, मानों यह घटना समाज की आत्मा में खरोंच लगाए बिना घटित हो गई हो; जबकि दूसरी ओर लोकवार्त्ताएं उसे नए यथार्थ से साक्षात्कार के रूप में आयत करती रही हैं और इस प्रयत्न में वे समकालीनता की सरहद में दाखिल हुई है। क्या यह विडम्बना नहीं कि आधुनिक परिवर्तनों का ब्यौरा-दर-ब्यौरा साक्ष्य पेश करने के बावजूद तमाम आधुनिक साहित्य लोक-संस्कृति से अपने सम्बन्ध-सूत्र की तलाश के प्रति उदासीन है? लगता है मानों सभ्यता ने अकस्मात लोक के धरातल से लम्बी छलांग लगा दी हो और फिर सीधे वह आधुनिकता की सतह पर उतर आई हो। यह सवाल भी कभी पूछा नहीं गया कि परम्परा को अतीत से मुक्त कर भविष्योन्मुख क्यों कर नहीं बनाया जा सकता? (परम्परा-मात्र में भविष्य देखने वाली दृष्टि की, दृश्य में प्रभावी उपस्थिति को देखते हुए यह प्रश्न और भी महत्वपूर्ण हो उठा है) दरअसल आधुनिक जीवनानुभव के भीतर 'सच' से साक्षात्कार का धीरज चुक जाने और किन्हीं तात्कालिक लक्ष्यों तक पहुँचने की हड़बड़ी में उसे यथार्थ का सतही साक्ष्य-भर बना देने से ऐसे द्वन्द्व-भरे प्रश्न स्वतः समाप्त हो जाते हैं। आगे बढ़ना ही यदि जीवन का लक्ष्य बन जाए तो ठहर कर सोचने वाली संस्कृति का पिछड़ी लगना बहुत स्वाभाविक है। जीवन कही हर गतिविधि को साक्ष्यीभूत होने पर ही सार्थक मान लेने से एक अनुभव को दुबारा जीने-उसका साक्षात्कार कर सकने, की लोक-प्रचलित परिपाटी निरर्थक हो जाती है। अब तो अनुभव को भी 'उत्पाद' की भांति पेश किया जाने लगा है। मानवीय अनुभव को 'साक्ष्य' बना कर सृजनात्मक अभिव्यक्ति की यथार्थवादी शैली एक लम्बे समयांतराल के बाद विकसित की जा सकी थी और इसे आधुनिकता के वरदान के रूप में देखा गया था, लेकिन आधुनिकत्तोर झटके से आनन-फानन में ही आधुनिकता

का साक्ष्य एक उत्पाद में बदल गया। पश्चिम के बाजारों में विक्रम सेठ और अरूंधती राय की कृतियां महज भारतीय अनुभव का उत्तेजक साक्ष्य न रह कर ऐसे 'उत्पाद' बन गई जिनके जरिए कुतूहल का व्यापार किया जा सकता था। पश्चिम के पाठकों को अनुभव के अनजानो अन्तर्प्रदेशों में विवरण का रोमांचकारी आमोद सिर्फ 'पिछड़े' देशों का साहित्य दे सकता है, इसलिए इस साहित्य की वहाँ बड़ी 'मांग' है। किन्तु यह सम्भवतः भाषिक सृजन का स्खलन नहीं, उसकी अनिवार्य नियति है। संयोगवश हमारे यहाँ साहित्य उत्पाद बन जाने की नियति से बचा हुआ है—शायद इसलिए भी कि लेखन-कर्म को यहाँ वैसी सामजिक केन्द्रीयता हासिल नहीं है; वह हाशिए पर ही है। लेकिन अनुभव को उत्पाद बनाने वाली शक्तियां साहित्य से इतर क्षेत्रों में यहाँ भी सक्रिय है; फैशन की दुनिया में 'फ़ोक' और 'एथनिक' के प्रति आकर्षण को बतौर प्रमाण देखा जा सकता है। यह अपने-आप नहीं हो गया कि आदिवासी कला अपने प्रकृत परिवेश और अनुभव जगत से विच्छिन्न होकर बाजार में आ गई है।

दरअसल जीने के अनुभव को 'साक्षात्कार' की निरन्तर प्रक्रिया में रचने वाले लोक-सृजन के बरअक्स उसे 'साक्ष्य' की भांति बरतने वाली अक्षर-संस्कृति अपने-आप में इस बात की गुंजाइश बनाए रखती है कि साक्ष्य में सुरक्षित अनुभव का लेनदेन अन्ततः उसे पण्य वस्तु की नियति की ओर ले जाएगा। साक्षात्कार की लोक सांस्कृतिक निरन्तरता से अलग होते ही अनुभव एक तरह की पूर्णता और अपरिवर्तनीयता प्राप्त कर लेता है और उसे मुद्रित पाठ के रूप में सुरक्षित करते ही उसके यथावत पुनरूत्पाद की सम्भावना भी जाग्रत हो उठती है; वह एक हद तक फिनिश्ड प्रोडक्ट बन जाता है। इसके विपरीत लोक-सृजन कभी फिनिश्ड प्रोडक्ट नहीं होता-यह और बात है कि बाजार की संस्कृति उसे आत्मसात् कर ऐसा होने के लिए बाध्य करती है, किन्तु अपने मूल परिवेश में वह सिर्फ संवाद का माध्यम है—क्योंकि हर आवृत्ति के साथ वह संवाद को एक नए अर्थ में ढालता है। यह संवाद अक्षर-संस्कृति में बदलकर-साक्ष्य बन कर भी सृजन के सत्य को सुरक्षित रख सकता है, किन्तु उत्पाद में रूपान्तरित होकर वह सार्थक भी रह सकेगा, इसमें सन्देह है।

अवकाश का लोक-सन्दर्भ

'हरेली' श्रम का उत्सव है। यह छत्तीसगढ़ के किसान जीवन की पर्व-शृंखला की पहली कड़ी है। दिलचस्प हैं कि खेती-किसानी से जुड़े लोक पर्व ठीक उन्हीं दिनों मनाये जाते हैं जब खेती का काम ज़ोरों पर होता है। इसमें भी असाढ़-सावन का समय सबसे कठिन परिश्रम का होता है; दूसरे प्रकृति भी इन महीनों में सर्वाधिक सक्रिय और प्रायः विक्षुब्ध होती है : उसकी सक्रियता-लगातार होने वाली वर्षा, कीचड़-कांदो, बाढ़ या रोग-राई का प्रकोप-श्रम के प्रायः प्रतिकूल होती है। यदि किसान अपने जीवन-कर्म के सबसे कठिन समय में त्यौहार मानता है तो इसके पीछे उसके सामुदायिक मनोविज्ञान के उन पहलुओं की जांच करनी चाहिये जिनके चलते वह कड़े जीवन-संघर्ष के बीच आनन्द और उल्लास के स्तोत्र खोज लेता है। कहने की जरूरत नहीं है कि लोक-पर्व मनुष्य के श्रम-परिहार का अवसर होते हैं। कड़ी मेहनत के दिनों में मनाये जाने के कारण 'हरेली' श्रम-परिहार को सर्वाधिक तीव्रता से चरितार्थ करता है।

हरेली के अवसर पर कृषि-उपकरणों की पूजा, पशुधन-रक्षा हेतु भैषिजीय उपाय तथा अनिष्ट-निवारण के प्रतीकात्मक और आनुष्ठानिक लोकोपचार के होते हैं और तरह-तरह के खेल खेलते हुए अपना मनोरंजन करते हैं। बच्चियां फुगड़ी खेलती हैं तो नौजवान गेंड़ी मचते या कबड्डी खेलते हैं। युवतियां खो-खो या बिल्लस का खेल खेलती हैं। डंडा-पंचरंगा या रामरस का भी आनन्द लिया जाता है। कुछ लोग, जदातर अधेड़ या बुजुर्ग मैदान में न जाकर चांवरा में बैठक करते हैं और चौपड़ या तिरी-पासा आदि खेलते हैं। गरज यह है कि अपनी रुचि के अनुरूप लोग अपने ढंग से मनोरंजन का कोई-न-कोई साधन चुनकर त्यौहार मनाते हैं। इसके पीछे गौर किया जाना चाहिये कि, एक तो सामुदायिकता की सघन चेतना होती है; दूसरे अवकाश को इस चेतना से कर्ममूलक तरीके से जोड़ने की ललक होती है। लोक-सामुदायिकता में अवकाश (फुर्सत) दरअसल लोक की कर्म-चेतना का ही विस्तार होता है। लोक-पर्व वस्तुतः किसान-जीवन में कठिन श्रम के बीच अन्तराल या अवकाश होते है, इसलिए वे श्रम-परिहार की सामुदायिक युक्तियां है। पर्वों की प्रमुख विशेषता उनकी सामुदायिकता है; वे एकांत में नहीं, अनिवार्यतः समुदाय के बीच मनाये जाते है। वे आनुष्ठानिक तो होते हैं किन्तु बुनियादी तौर पर उनका स्वरूप मनोरंजनात्मक होता है। वे श्रमजीवी समाज में अवकाश की एक भिन्न अवधारणा को चरितार्थ करते हैं। श्रम-परिहार की दृष्टि से आवश्यक होने के कारण श्रम के

अन्तराल के तौर पर सबसे कठोर-परिश्रम के दिनों में-सावन से लेकर कार्तिक तक, लोक-पर्वों की बार-बार आवृत्ति होती हैं। सावन में तो सप्ताह में एक दिन अवकाश रखकर गांव-भर में 'तिहार' मनाने की परम्परा है। इस दिन कृषि-कार्य बन्द रहता है। लोग सामान्यतः मन बहलाने के विभिन्न उपकरणों में रत होते हैं। इधर यह जरूर देखने में आ रहा है, कि सावन के साप्ताहिक 'तिहार' के दिन लोग मनोरंजन में उस तरह प्रवृत्त नहीं होते जैसा कि बीते समय में देखने में आता था। यह संकेत देता है कि लोक जीवन की सामुदायिकता क्रमशः क्षतिग्रस्त हो रही है। साथ ही इस तथ्य को भी लक्ष्य किया जा सकता है कि लोकजीवन में प्रचलित अवकाश अर्थात् फुर्सत की अवधारणा भी धीरे-धीरे बदलने लगी है।

इस बदलाव को समझने के लिए लोकजीवन में अवकाश की प्रचलित अवधारणा पर विचार किया जाना चाहिये। पर्व, सच पूछा जाए तो किसान जीवन में श्रम के बीच का अन्तराल नहीं, बल्कि श्रम-काल के बीच की संधि है। पर्व एक तरह की ममोसांस्कृतिक गांठ है, जो श्रम की थकान और उकताहट से भरे मन को जोड़ कर रखती है। श्रम से मुक्ति का सुकून देता है। लेकिन यह कर्म से मुक्ति की छूट नहीं दिया करता। पर्व कर्मरहित नहीं, कर्मयुत होते हैं। लोक-संस्कृति में पर्व फुर्सत का समय तो है लेकिन वह निठल्लेपन का समय नहीं है। वह अवकाश है, लेकिन कर्म की निरन्तरता उसे एक विशिष्ट चरित्र प्रदान करती है। मनोरंजन भी तो अन्ततः कर्म ही है। लोक जीवन में कर्म और संस्कृति के बीच अनिवार्य एकता होती है। इसलिये यहाँ अवकाश भी बुनियादी रूप से सांस्कृतिक अन्तराल के तौर पर सम्पन्न होता है। लोग श्रम की अनिवार्यता से मुक्त तो होते हैं, किन्तु उसकी सामुदायिकता को अपने अवकाश में नये सिरे से अर्जित करते हैं। वे एकांत में जाकर विश्राम नहीं करते। अवकाश की सामुदायिकता में वे जो नया सांस्कृतिक स्पेस, खेलकूद और मनोरंजन के जरिये निर्मित करते है, उसमें दरअसल वे अपनी आंतरिक एकरसता से निजात पाते हैं। समूह में खेलते-कूदते, नाचते-गाते वे अवकाश को सृजनात्मक आनन्द से भर देते हैं। सृजन और कल्पना को कर्म के अनुशासन में संयोजित कर देने का यह उपक्रम लोकजीवन को अद्‌भुत ढंग से मुक्त करता है। मुक्ति की यह चेतना एक स्वतः स्फूर्त उल्लास के रूप में प्रकट होती है। हरेली ऐसा ही उल्लास पर्व है।

इस रूप में देखें तो कहा जा सकता है कि लोक-संस्कृति में जीवन-कर्म और सृजन-कर्म के बीच यानी श्रम और मनोरंजन में अलगाव नहीं होता। दोनों परस्पर इस प्रकार अन्तर्निबद्ध होते है। कि एक दूसरे की निरन्तरता में ही चरितार्थ होते है। श्रम का सौन्दर्य ही लोक जन के लिये जीवन-सौन्दर्य होता है। अनायास नहीं है कि लोकगीत सदैव में श्रम-प्रक्रिया अथवा कर्म-प्रक्रिया के बीच में रचे गये हैं, व्यक्ति के कर्मरहित एकांत में से नहीं। हेरली का कर्म-सौन्दर्य भी श्रम की कर्म-चेतना से

उत्पन्न होता है। हरेली का पर्व एक ऐसे अवकाश की रचना करता है, जिसमें लोक-जन खेती किसानी के काम काज की थकान को भूल जाता है और मनोरंजन के जरिये तरोताजा हो लेता है ताकि आने वालो दिनों में दुबारा से वह कठिन परिश्रम में जुट जाए। सावन के साप्ताहिक 'तिहार' भी ऐसा ही अवकाश जुटाते हैं। ये परिश्रम के लिये 'शक्ति-संचय' के पर्व है। जाहिर है, लोक जीवन में अवकाश भी मनुष्य की कर्म-चेतना और उसकी सृजनात्मकता से भरा होता है।

लोकजीवन से इतर, नागरिक जीवन में अवकाश की अवधारणा न सिर्फ अलग बल्कि प्रायः विपरीत होती है। वहाँ फुर्सत का अर्थ आराम है। दूसरे वहाँ मनोरंजन तो है लेकिन वह प्रायः निठल्ल मनोरंजन है। तीसरा यह है कि नागरिक जीवन में अवकाश पूर्णतः एकांत-जीवन पर आधारित है, वह लोकजीवन की-सी सामुदायिकता को नकारता है।

आधुनिक समाज में छुट्टी का दिन अकसर पूरे विश्राम का दिन होता है। कभी-कभी वह एकांत-सेवन या पारिवारिक मनोरंजन का दिन होता है। पश्चिम में तो 'वीक एंड' (सप्ताहाँत) मनाने की प्रथा है और प्रायः हर सप्ताह शनिवार-रविवार के दो दिन इसके लिये नियत होते हैं। वहाँ विश्राम भी काम जितना ही महत्वपूर्ण माना जाता है। अवकाश की यह आधुनिक अवधारणा श्रम-परिहार की एक युक्ति के तौर पर अवकाश की लोक-अवधारणा से भिन्न नहीं है, लेकिन कर्म-चेतना की निरन्तरता की दृष्टि से यदि देखें तो दोनों परस्पर विपरीत है। लोकजीवन में मनुष्य श्रम की चेतना से या कि कर्म-बोध से विलग नहीं होता जैसे कि मसलन हरेली त्यौहार के दिन किसान अपने श्रम-उपकरणों की पूजा करता है और साफ-सुथरा कर उन्हें साज-सम्भार कर रखता है। यह बीते हुए कल का-श्रमकाल का और श्रम में सहायक वस्तुओं का आभारपूर्वक स्मरण है। आधुनिक जीवन में अवकाश का अर्थ है, बीते हुए कल को भूल जाना। यह श्रम की स्मृतियों का अस्वीकार है। इस अवकाश में एक आधुनिक व्यक्ति अपनी कर्म-चेतना को खंडित पाता है। वह उस सूत्र को जोड़ने या उसे खोजने का प्रयत्न भी नहीं करता जो उसे उसके समीपस्थ अतीत के कर्म-संसार से सम्बद्ध कर सके। वह अपने वर्तमान को अपने मूल कर्म से, आजीविका के त्रासद दबाव से असम्बद्ध कर जीता है। कर्म उसके लिये समीवस्थ भविष्य या बीता अतीत है। जबकि लोकजीवन में कर्म एक अविरल वर्तमान में घटित होता है। जाहिर है, अवकाश भी कर्म के अविरत वर्तमान का ही अंग है।

कर्म की निरन्तरता खण्डित होने का नतीजा आधुनिक जीवन का आराम तलब एकांत है जो वस्तुतः कर्महीन अवकाश है। इसे ऐसे मनोरंजनात्मक उपक्रम होती। वह दर्शक या भोक्ता-मात्र होता है, प्रत्यक्षतः कर्त्ता नहीं। उसे प्राप्त होने वाला आनन्द कर्मजन्य नहीं, उपभोगमूलक होता है। अवकाश की इस विशिष्ट दशा का सम्बद्ध अपेक्षाकृत समृद्ध समाज की आथिक अवस्थिति से है। यहाँ

व्यक्ति किंचित् सम्पन्नता में जीता है और अपने श्रम का अपोया बेहतर मूल्य प्राप्त करने के कारण उपभोग का अवकाश उसे स्वयमेव प्राप्त होने लगता है। यह अवकाश भोगी वर्ग है। इसके सांस्कृतिक क्रियाकलाप 'कर्म' के इर्द-गिर्द नहीं, 'अवकाश' के परिणामस्वरूप हुआ है। या पश्चिम में सप्ताहाँत की सैर और मनोरंजन का सम्बन्ध भी इसी अवकाश से है। तात्पर्य यह है कि प्रभुत्वशाली वर्ग का अवकाश इस तरह के सांस्कृतिक आयोजनों के द्वारा साकार होता है जिसमें प्रेक्षक के रूप में व्यक्ति आनन्द का उपभोग करता है। इसके विपरीत श्रमजीवी समाज अपने मनोरंजन में सीधी हिस्सेदारी करता है। सीधी हिस्सेदारी उसके मनोरंजन को सृजनात्मक बनाती है। अवकाश भोगी वर्ग की तरह उसकी कोई प्रेक्षक संस्कृति नहीं होती, बल्कि वह सहभागी संस्कृति की रचना करता है। हरेली के सांध्यकालीन मनोरंजन में भी समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति दर्शक भी होता है और सहभागी भी। सहभागिता की अपनी सृजनशीलता होती है, उसका विशिष्ट आनन्द होता है जो प्रेक्षक संस्कृति अर्थात् अवकाशभोगी वर्ग में सम्भव नहीं। लोक संस्कृति में अवकाश दरअसल कर्म का भोग हैं जबकि आधुनिक जीवन में वह भोग का कर्म बन जाता है। लोकजीवन में पर्वों के अवसर पर नाचना-गाना-खेल खेलना 'कर्म का भोग' है जबकि आधुनिक जीवन में सैर-सपाटा या मनोरंजन-कार्यक्रम का आनन्द लेना वस्तुतः 'भोग का कर्म' है।

दरअसल 'कर्म के भोग' पर आधारित सांस्कृतिक जीवन में अवकाश का निषेध होता है। लोक-समाज में सच पूछा जाये तो छुट्टी (हॉलीडे) जैसी चीज होती ही नहीं। त्यौंहारों के रूप में अवकाश का समय तो लोकोपचार और लोकानुष्ठान के कर्म में बीता जाता है। जिन दिनों खेती-किसानी का काम नहीं होता, किसान खेती की या जल की तैयारी का काम-रस्सी बंटना, छानी-छप्पर ठीक करना, औजार मरम्मत करना आदि-करता है। इस तरह वह निरन्तर श्रमरत होता है। फागुन और असाढ़ के बीच का समय हल्के-फुल्के रम का समय है। इसी समय शादी-ब्याह आदि लोक संस्कार होते हैं, जिनमें उसके उल्लास का उत्सवन होता है। यह सारा कार्यकलाप यहाँ तक कि उसका श्रम भी एक तरह की सामुदियकता के दायरे में घटित होता है। यह सामुदायिकता एकांत या कि ऐकांतिक अवकाश का विलोम है। वह लोकजन को इस तरह अर्न्तसमद्ध बनाये रखती है—भीतर से इतना भरा-पूरा कि वह अवकाश की आवश्यकता ही अनुभव नहीं करता। उसके जीवन में भोग और कर्म के बीच, श्रम और अवकाश के बीच कोई बाहरी फांक नहीं होती है। वह कर्म में भोग (आनन्द) का और भोग में कर्म का विन्यास देखता है। इस दृष्टि से देखें तो हरैली-जैसा पर्व किसान जीवन का अवकाश नहीं है। वह सही मायनों में श्रम-परिहार का अन्तराल है। कहने की जरूरत ही नहीं कि श्रम-परिहार का अवसर भी अन्ततः किसान के कर्म सातत्य का ही हिस्सा है।

लोकजीवन में कर्म की अवधारणा पर भी संक्षेप में विचार किया जाना चाहिये। कर्म यहाँ मूलतः श्रमवाचक है। लोक में प्रकृति और मनुष्य के बीच के रिश्तों को तय करता है। श्रमके द्वारा ही लोक प्रकृति को अपने भीतर स्वायत्त करता है। इसी प्रयत्न में उसकी संस्कृति निर्मित होती है। श्रम की प्रक्रिया अर्थात् प्रकृति से मनुष्य की अन्तर्क्रिया के दौरान विकसित होने के कारण लोक-संस्कृति प्रकृति की सकर्मक उपस्थिति की विभिन्न छवियों में मूर्त होती ह। स्पष्टतः कर्म यहाँ प्रकृति को स्मृति में रूपान्तरित करने की चेष्टा है। वह श्रमनिष्ठ चेष्टा है। अवकाश दरअसल इस चेष्टा में गुंथा हुआ है। लोकनुष्ठान अवकाश में सम्पन्न होते हैं लेकिन उनमें अनिवार्य रूप से प्रकृति की स्मृतियां और मनुष्य की श्रमनिष्ठ चेष्टा अन्तर्निविष्ट होती है।

नागरिक जीवन का अवकाश व्यक्ति का निजी, इसलिये सामाजिक कर्म से पूर्णतः स्वतन्त्र समय होता है। वहाँ रंजनकारी कलाएं भी अपनी स्वायत्तता की तलाश में होती है इसलिये उनमें अनिवार्य व्यक्तिनिष्ठता होती है। इसके चलते वे अवकाश के कर्महीन आनन्द को को उत्पादित करने का साधन बन जाती है। इसके चलते वे अवकाश के कर्महीन आनन्द को उत्पादित करने का साधन बन जाती है। मनोरंजन-कर्म के विशिष्ट सामाजिक दायरे में वे उपभोग की वस्तुएं बन जाती है। मनोरंजन यहाँ स्वतन्त्र कर्म के रूप में घटित होता है। उससे जो सामुदायिकता विकसित होती है, मसलन क्लब, जुआघर, सिनेमाघर, सभा-समारोह या खेल-आयोजनों की सामुदायिकता-उसमें फुर्सत के समय को भरने का एक चलताऊ प्रयत्न होता है। अब तो मनोरंजन उपभोगवाद की गिरफ्त में आ गया है और न सिर्फ वह व्यवसाय बन गया है बल्कि वाल्टर बैंजामिन के शब्दों में कहें तो 'संस्कृति उद्योग' का रूप ले चुका है। संस्कृति उद्योग न सिर्फ सांस्कृतिक उत्पादन में रत है बल्कि वह बड़े पैमाने पर जन-सामान्य के बीच अवकाश का भी उत्पादन करता है। हमारे देश में छुट्टी लेकर क्रिकेट मैच देखने वालों की कमी नहीं है। क्रिकेट, कहना न होगा कि मनोरंजन उद्योग का अत्यन्त लोकप्रिय उत्पाद है। इस तरह के लोकप्रिय उत्पाद अपने उपभोग की आवश्यकता को साथ लेकर बाजार में उतरते हैं। समाज में व्यापक अवकाश पैदा कर वे उसे उन्माद से भर देते हैं।

लोक-पर्व इस उन्माद से मुक्त होते हैं। उन्माद मास सोसाएटी का लक्षण है, लोकजीवन का नहीं। लोकजीवन में उल्लास भी मर्यादित होती है। उसकी सीमारेखा सृजनात्मक आनन्द के पार नहीं जाती। हरेली के अवसर पर मनोरंजन-कर्म में यह उल्लास देखा जा सकता है। इसमें या कृषि-काल की पर्व-श्रृंखला में अवकाश 'उत्पादित' नहीं किया जाता, बल्कि उसकी 'सहज स्रष्टि' होती है। उसका उल्लास भी नैसर्गिक और स्वतः स्फूर्त होता है। प्रकृति को अनुकूलित करने के मानवीय उपक्रम का हिस्सा होने के कारण इन पर्वों का उल्लास मनुष्य की विजयाकांक्षा और उसकी कर्मठता को व्यक्त करते हैं। हरेली एक ऐसा अवकाश (स्पेस) निर्मित करता

है, जिसमें मनुष्य की यह विजयाकांक्षा प्रकृति को ही नहीं, अति-प्राकृतिक (सुपर-नेचरल) सत्ताओं को भी नियन्त्रित करने का उपक्रम संजोती है। 'सवनाही बरोने' की प्रथा ऐसा ही उपक्रम है। इस तरह से देखें तो हरेली मनुष्येतर शक्तियों पर मनुष्य की पकड़ की भी स्मृति-गाथा है। उसके स्वस्ति-बोध की अभिव्यक्ति है। अवकाश का सम्बन्ध लोकरंजन से ही नहीं, स्वस्ति-बोध से भी है। अनिष्ट-निवारण का जो उद्यम हरेली की पर्व-चेतना के साथ बद्धमूल होता है, वह लोक-मंगल की व्यापक भावना को प्रकट करता है। यह भावना लोक जीवन में अनवरत सक्रिय होती है। वह श्रम-काल में मूर्त्त होती है, लेकिन अवकाश-काल में अत्यन्त मुखर होती है। प्रकृति और प्रकृति इतर शक्तियों पर विजय की मानवीय आकांक्षा में समायी हिंस्र आदिमना को लोक-मंगल का भाव मर्यादित करता है। वह मनुष्य को प्रकृति का स्वामी नहीं, सहचर बनाता है। हरेली का इस साहचर्य-बोध का ही पर्व है।

स्मृति की सर्जनात्मकता

मनुष्य अनुभव करता है और उसे अभिव्यक्त भी करता है। अनुभव को सम्प्रेषित करने के लिए अपनी सभ्यता के आरम्भ-काल में ही उसने भाषा का आविष्कार किया था। सच पूछा जाए तो भाषा मानव-सभ्यता के इतिहास की सबसे बड़ी खोज है। भाषा संचार का आदिम उपकरण है जो सभ्यता की प्रगति के साथ उत्तरोत्तर विकसित होते हुए आधुनिक युग में आकर संवेदन प्रवणता और अभिव्यक्ति क्षमता की दृष्टि से उन्नत अवस्था तक पहुँची है।

भाषा के तीन रूप : वाचिक, मुद्रित और इलैक्ट्रॉनिक

आज की दुनिया में भाषा के अनेक सर्जनात्मक और प्रयोजनमूलक रूप दिखाई पड़ते है। जटिल और बहुस्तरीय यथार्थ को व्यक्त करने के प्रयत्न में भाषा भी जटिल और बहुस्तरीय होती गई है। मानव-सभ्यता की मौजूदा अवस्था में भाषा के तीन रूप विद्यमान है—वाचिक, लिखित-मुद्रित और इलैक्ट्रॉनिक। वाचिक शब्द का इतिहास लगभग उतना ही पुराना है, जितना खुद सभ्यता का इतिहास। जब तक मानव जाति ने लिखना नहीं सीखा था, तब तक उसकी अभिव्यक्ति का अकेला माध्यम वाचिक शब्द था। लेखना के आविष्कार के साथ लिखित शब्द का आविर्भाव हुआ। भाषिक ध्वनि का अक्षर-संस्कृति में अवतरण हुआ। कालान्तर में मुद्रण-कला का विकास होने पर अक्षर-संस्कृति का तीव्र गति से प्रसार हुआ। मुद्रित पुस्तक ज्ञान के संग्रहण और संचार का माध्यम बन गई। पिछली सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध में, खास तौर पर यूरोप के पुनर्जागरण के बाद ज्ञान का सृजन और संचार अत्यन्त तीव्र गति से, और बड़े पैमाने पर हुआ। इसके पीछे मुद्रित शब्द की शक्ति थी। मुद्रित शब्द ने ज्ञानोदय को सम्भव किया। आधुनिक युग में प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान अथवा टेकनोलॉजी के क्षेत्र में विकसित हुआ सम्पूर्ण ज्ञान-भंडार लिखित-मुद्रित पुस्तकों में संचित है।

लेकिन पुस्तकों के आविर्भाव के पूर्व ज्ञान के उत्पादन और सम्प्रेषण के लिए मानव-जाति प्रायः वाचिक शब्द पर निर्भर थी। वाचिक शब्द की यह सुदीर्घ परम्परा भाषा के जन्मकाल से लेकर यूरोपीय पुनर्जागरण युग तक क्रमशः विकसित होनी रही। सच कहा जाए तो सभ्यता के विकास का गुरूतर भार, आदि युग से लेकर आधुनिक युग के आरंभ तक, वाचिक शब्द ने अकेले वहन किया है। सारी दुनिया में पारम्पारिक ज्ञान का अधिकतर भाग वाचिक परम्परा में संचित और विकसित हुआ है।

लेकिन वाचिक परम्परा में ज्ञान के संचार की गति बहुत धीमी थी। संचार का स्वरूप प्रायः निजी अथवा सामुदायिक था। हमारे यहाँ गुरू-शिष्य परम्परा के रूप में शास्त्रबद्ध अथवा लौकिक ज्ञान की संचार-प्रक्रिया प्रमुखतः अन्तर्वैयक्तिक थी। उपनिषद् तो गुरू-शिष्य के बीच प्रश्नोत्तर या संवाद या तत्व-जिज्ञासा है, यह सभी जानते हैं । यह भी सुविदित हैं कि इस संवाद का स्वरूप मौखिक है। उपनिषद् दरअसल मौखिक संवाद का लिपिबद्ध संस्करण है। उसकी अन्तर्वैयक्तिकता उसके लिपिबद्ध प्रारूप में भी छिप नहीं पाती। दूसरी तरफ लोक-परम्परा में विकसित हुए ज्ञाना का स्वरूप सामुदायिक है। वह भी वाचक शब्द में चरितार्थ होता है। वाचिक शब्द का संचार, चाहे वह अन्तर्वैयिक्तक हो अथवा सामुदायिक, सीमित पैमानो पर ही सम्भव था। स्वयं समुदाय उसकी सीमा बन गया था। वैदिक साहित्य एक सीमित समुदाय का साहित्य था, किन्तु कालान्तर में उसकी सामुदायिकता के विस्तार के साथ उसका संचार क्षेत्र विस्तृत हुआ।

लेकिन वैदिक वाङ्मय का मौखिक प्रारूप जब लिखित पाठ में स्थानांतरित हुआ, तो उसका संचार क्षेत्र और भी व्यापक हो उठा। मुद्रण ने लिखित पाठ के प्रतिलिपिकरण के चलते ज्ञान की लोकव्याप्ति को अधिकाधिक सुगम बना दिया। मुद्रित शब्द की पहुँच वाचिक शब्द से बहुत आगे है। स्वयं लिखित शब्द ने वर्चस्व के यथास्थितिवाद को चुनौती दी थी, जब वाचिक शब्द के दायरे से बाहर आकर वैदिक साहित्य लिखित पाठ में तब्दील हुआ और अपना एकाधिकार समाप्त हो जाने की आशंका में द्विजों ने शूद्रों के वेद-पाठ को प्रतिबंधित करार दिया। यह ज्ञान के लोकतांत्रिकीकरण के विरुद्ध यथास्थितिमूलक प्रतिवाद स्वयमेव शिथिल हो गया। प्रिंटिंग प्रेस के युग में वेद-वाक्य की पवित्रता ही नहीं, उसकी तथाकथित अपौरूषयेता का मिथक भी भंग हो चला है और वेद अब पुस्तक के रूप में सर्वसुलभ है।

मुद्रित पाठ से आगे शब्द का तीसरा अवतार पिछली सदी में इलेक्ट्रॉनिक माध्यम में प्रकट हुआ। साइबरनेटिक्स और उपग्रह-संचार-प्रौद्योगिकी के उद्यम के चलते मुद्रित शब्द का रूप-परिवर्तन हो चुका है। सहसा वह कागज से उठकर कम्प्यूटर के स्क्रीन पर चमकने लगा। उसकी संचार-क्षमता अकल्पनीय रूप से बढ़ गई। यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि इंटरनेट पर कोई पाठ क्षण-भर के भीतर सारी दुनिया में संचरित हो सकता है और सोशल नेटवर्किंग साइट्स की अपार लोकप्रियता बताती है कि इलैक्ट्रॉनिक शब्द की पहुँच और क्षमता किसी व्यापक है।

वाचिक शब्द और उसकी परम्परा

सामान्यतया शब्द के इन तीन माध्यमों का संबंद्ध तीन भिन्न भिन्न सामाजिक अवस्थाओं से जोड़ा जाता है। वाचिक शब्द को पूर्व-आधुनिक युग का सम्प्रेषण माध्यम समझा जाता है जबकि लिखित मुद्रित शब्द का सम्बन्ध आधुनिक युग से

और इलैक्ट्रॉनिक शब्द का आधुनिकोत्तर युग से माना गया है। तीनों माध्यम अपने-अपने समय की ज्ञान-दशाओं को प्रकट करते हैं। उसका वैशिष्ट्य वस्तुतः उनके अपने समय का वैशिष्ट्य है। लेकिन हमारे समय में ये तीनों शब्द रूप यदि साथ-साथ न सिर्फ अस्तित्व में है बल्कि युगपत् रूप से सक्रिय भी हैं तो यह मानना होगा कि हमारे समय में एक साथ विभिन्न सामाजिक अवस्थाएं भी विद्यमान और सक्रिय हैं। बेशक नई प्रौद्योगिक ने पारम्परिक शब्द के स्वरूप और संचार-प्रक्रिया में हस्तक्षेप किया है और वे अपने प्रचलित रूप-विन्यास से बाहर आकर सर्वथा नए रूप में प्रकट हुए हैं। उदाहरण के तौर पर वाचिक शब्द के सम्प्रेषण में माइक्रोफोन अथवा मुद्रित शब्द के संचार में प्रिंटिंग मशीन की डिजिटल तकनीक से उन्हें अधिक प्रभावी और सक्षम बनाया है।

भाषा के तीनों माध्यम में वाचिक शब्द और उसकी परम्परा सबसे पुरानी है। उसमें भाषा का समूची स्मृति बसती है। सभ्यता का जीवित अतीत उसके भीतर स्पंदित होता है। हमारे असंख्य अनजाने-अनाम पुरखों का जीवन, उनके अनुभव, आकांक्षाएं और स्वप्न वाचिक शब्द के कठोर में संचित है। सचपूछा जाए तो वाचिक परम्परा मानव-सभ्यता का जीवन-वृत्तांत (बायोग्राफी) है। सभ्यता के उदयकाल से लेकर कृषि-संस्कृति की उन्नत अवस्था तक मानव-जाति का समूचा संचित अनुभव वाचिक परम्परा में साकार हुआ है। प्राचीन संस्कृतियों की सतत उत्तरजीविता का रहस्य वाचिक शब्द की अखण्ड निरन्तरता में निहित है। जिसे हम परम्परा के रूप में पहचानते हैं और जो सदियों तक विभिन्न समाजों के सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पैटर्न्स को नियमित और संचालित करती रही है, वह दरअसल मानवीय स्मृति की उजली सुरंग में वाचिक शब्द की अटूट गतिशीलता का परिणाम हैं। परम्परा और कुछ नहीं, स्मृति की निरन्तरता है—जाहिर है, ऐसी निरन्तरता, जिसमें क्षण-क्षण सर्जनात्मक उन्मेष होता रहता है।

शब्द, श्रुति और स्मृति

वाचिक परम्परा को निर्मित करने और गतिशील बनाए रखने में स्मृति की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।वाचिक शब्द दरअसल स्मृति से ही ऊर्जा प्राप्त करना है। अगर लिखित-मुद्रित शब्द को हम कागज पर या इलैक्ट्रॉनिक शब्द को स्क्री पर साकार होते देखते हैं, तो वाचिक शब्द स्मृति-पटल पर अंकित और अनुभूत होता है। शब्द का मूल स्थाना तो स्मृति है। स्मृति-प्रदेश से बाहर आ कर ही वह कागज या स्क्रीन पर प्रकट होता है। इस मायने में कागज या स्क्रीन मनुष्य के स्मृतिपट का रूपान्तर या स्थापान्न है।

लेकिन शब्द और स्मृति का सम्बन्ध सर्जनात्मक, जीवंत और गतिशील सम्बन्ध है, जबकि काग़ज़ या स्क्रीन के साथ शब्द का सम्बन्ध अपेक्षया यान्त्रिक है। कागज

या स्क्रीन शब्द के लिए माध्यम-भर है, जिनमें प्रकट होने के बाद शब्द मानवीय स्मृति के जादुई स्पर्श से ही जीवंत हो पाता है। लेकिन इस पर भी मुद्रित शब्द की सर्जनात्मक क्षमता उसके पाठबद्ध होने के चलते उन्मुक्त नहीं रह पाती, क्योंकि मुद्रित शब्द का अर्थ उसके माध्यम की सीमा में फ्रीज हो जाता है। इसके विपरीत वाचिक शब्द स्मृति की छुअन से सदैव उत्तेजित और उत्तप्त रहता है। इसके अर्थ के विस्तार की सम्भावना सदैव बनी रहती है। स्मृति उसे सतत् सर्जनात्मक बनाए रखती है।

इस तथ्य को समझने के लिए लोक साहित्य और मुद्रित साहित्य की संचार-प्रक्रिया को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। लोक साहित्य वाचिक परम्परा में अर्थात् मौखिक संचार के जरिए अस्तित्व प्राप्त करता है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसके संचार के दौरान, अचरज नहीं कि उसका पाठ बदलता चला जाता है, क्योंकि इस दौरान वाचक की स्मृति अत्यन्त उर्जस्वित और सक्रिय रहती है और वह पाठ में हस्तक्षेप कर उसके प्रारूप को विखण्डित करती है, फिर उसकी पुनर्रचना करती है। पुनर्रचना की प्रक्रिया में वाचक के अनुभव का योगदान होता है। प्रत्येक वाचक अपने निजी अनुभव-संसार के भीतर वाचिक पाठ की पुनर्रचना करने को स्वतन्त्र होता है। कुछ वर्ष पूर्व छत्तीसगढ़ी लोकगाथाओं पर केन्द्रित एक कार्यशाला में कुछ गाथा-गायकों को आमन्त्रित कर एक ही गाथा को उनसे गवाया गया। लेकिन यह दिलचस्प था कि प्रत्येक गाथा-गायक का गाथा-पाठ एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न था, यद्यपि कथा का मूल ढांचा सबका एक सरीखा था। वाचिक शब्द की यह पाठ-बहुलता, स्पष्ट है कि उसकी सर्जनात्मक ऊर्जा का परिणाम है। कहने की जरूरत नहीं कि गाथा-गायकों निजी स्मृति, उनके अपने अनुभव-जगत, का दबाव उनके पाठ पर प्रत्यक्ष था। यहाँ मानवीय अनुभव एकाश्मीय (मोनोलिथिक) पाठ में प्रस्तरीकृत नहीं हो गया, वह सृजनात्मक हस्तक्षेप के लिए-एकनए पाठ में रूपान्तरित होने के लिए-निरन्तर खुला हुआ था।

इसके विपरीत मुद्रित साहित्य का पाठ लेखक की क़लम से उतरते ही मानो जड़ीभूत हो जाता है। वह लेखक का अपना पाठ होता है। उसे रचने में किसी और की भागीदारी नहीं होती। वह अपरिवर्तनीय और पूर्णतः स्थिर पाठ होता है। उसकी समूची सर्जनात्मक सम्भावना पाठ की सीमा के भीतर निचुड़ गयी होती है। पाठक को न तो उसके विखण्डन का अधिकार है, न उसकी पुनर्रचना का। विखण्डन लेखक के लिए अवांछनीय और उसकी दृष्टि में अवैध हे, जबकि पुनर्रचना पाठक के लिए असम्भव, क्योंकि मुद्रित पाठ का प्रारूप अंतिम माना जाता है और उस पर लेखक का सर्वाधिकार है। अपने पाठ की सम्भव सर्जनात्मकता को स्वयं लेखक समाप्त कर देता है।

इस तरह से देखें तो मानवीय स्मृति के उर्वर प्रदेश से विलग होते ही एक हद तक अपनी सर्जनात्मक ऊर्जा से वंचित हो उठता है अथवा उसकी रचनात्मक

शक्तियां सीमाबद्ध हो जाती है। यह मुद्रित पाठ की सीमा है, जिसके भीतर 'श्रुत' और 'स्मृत' की अकुण्ठ विकलता नहीं, न ही पाठक के भाव-संवेगों को उन्मुक्त कर देने की उत्तेजना है। इसके भीतर लेखकीय मंतव्य का कड़ा पहरा होता है। पाठक की कल्पना का पंछी पाठ की चौहद्दी में फुदक कर रह जाता है, उसे लांघ नहीं पाता।

भारतीय समाज में स्मृति

वाचिक शब्द 'श्रुति' और 'स्मृति', दोनों से ऊर्जा ग्रहण करता है। श्रुति अर्थात् अनुभव और स्मृति अर्थात् अनुभव का संचरण। श्रुत या अनुभूत वस्तुततः मनोजगत में प्रकट होता है और अभिव्यक्ति के लिए छटपटाता है। अन्ततः वाक् के जरिए वह स्वयं को व्यक्त करता है। एक बार व्यक्त हो जाने के बाद वाक् अस्तित्त्वहीन नहीं हो जाता। वह श्रुति में पुनः रूपान्तरित होकर पुनर्जन्म ग्रहण करता है और अभिव्यक्ति की छटपटाहट से भर उठता है। वाक् दरअसल शापग्रस्त है, बार-बार जन्म लेने और छटपटाने के लिए। श्रोता-दर-श्रोता या पीढ़ी-दर-पीढ़ी यह अभागा वाक जन्म ग्रहण करता है और अपने अस्तित्त्व के साथ बद्धमूल छटपटाहट के साथ मनोजगत में हलचल पैदा करता है। स्मृति वह लीलाभूमि है जहां श्रुति और वाक् का क्षण-क्षण रूपान्तरण सम्भव होता है। बल्कि यह कहना सम्भवतः ज्यादा सही होगा कि इस रूपान्तरण के जरिए ही स्मृति की रचना होती है। वाचिक शब्द वस्तुतः श्रुति और स्मृति की संतान है। कहने की जरूरत नहीं कि स्मृति के अखण्ड प्रवाह में वाचिक शब्द का संचार अन्ततः एक परम्परा का रूप ग्रहण करता है। उसके भीतर वाक् और अर्थ का युग्म देह और प्राण की तरह अनन्य जान पड़ता है।

मुद्रित या डिजिटल शब्द किसी भी तरह से वाचिक शब्द की उन्मुक्त सर्जनात्मकता के भीतर साकार नहीं हो सकता क्योंकि स्मृति की भूमिका मुद्रित या डिजिटल माध्यम में सिमट जाती है। सच कहा जाए तो सभ्यता के विकास के साथ मानवीय स्मृति मंजते-मंजते मानो घिसने लग गई है। जिन संस्कृतियों में वाचिक परम्परा अत्यन्त सशक्त और समृद्ध रही है, वहाँ स्मृति की शक्ति कमोबेश अक्षुण्ण रही है—कम-से-कम निष्प्रभावी नहीं हुई है। लेकिन जिन समाजों ने लिखित-मुंद्रित शब्द पर ज्यादा भरोसा जताया और साक्षरता की सुदृढ़ संस्कृति का निर्माण किया है, वहाँ मानवीय स्मृति भराराकर ढह गई।

इस सृष्टि से पूर्व और पश्चिम की शब्द-संस्कृति की तुलना दिलचस्प हो सकती है। बरसों पहले संगीत-विदूषी डॉ. प्रेमलता शर्मा ने एक रेडियो-वार्त्ता में ऐसी ही तुलना करते हुए वाचिक परम्परा के निर्माण में स्मृति की भूमिका को रेखांकित किया था। उनके मतानुसार पश्चिमी समाज में साक्षरता पर आधारित सामाजिक कार्यकलाप के चलते मुद्रित पाठ का महत्व क्रमशः बढ़ता गया। फलस्वरूप शिक्षा, संस्कृति, राजनीति, प्रशासन, न्याय प्रणाली, जनसंचार सहित निजी और सामाजिक

जीवन के हर क्षेत्र में लिखित मुद्रित शब्द का चलन बढ़ा। वाचिक अभिव्यक्ति सिर्फ वार्तालाप या तात्कालिक संवाद तक सीमित रह गई। ऐसी स्थिति में स्मृति का इस्तेमाल अपने आप कम होता गया। सामुदायिक स्मृति, यूं भी वहाँ लोक-संस्कृति नष्ट हो जाने के कारण, प्रायः समाप्त हो चुकी है, लेकिन व्यक्ति की निजी स्मृति भी विलक्षण ढंग से क्षरण का शिकार हुई है। दूसरे, सभ्यता और ज्ञान के अंधाधुंध विकास के फलस्वरूप तथा सूचना की सहसा अप्रत्याशित बमबारी के चलते मानवीय स्मृति किसी कदर क्षत-विक्षत भी हुई है या सूचना की विपुलता को सम्हासल सकने की क्षमता से वंचित हो चली है। ऐसी स्थिति में रोजमर्रा के जीवन में छोटे-मोटे कामकाज के बारे में या जरूरी सूचनाओं को याद रखने के लिए भी लोग अगर रोजनामचे का इस्तेमाल करने लगें या उसमें दाखिल इंद्राज को देखकर दैनंदिन कार्य करें, तो अचरज की बात नहीं। ये छोटी-छोटी सूचनाएं उनके स्मृति-कोष में टिक नहीं पाती, तत्काल वाष्पीकृत हो जाती है। इसलिए उन्हें डायरी में लिखकर याद करना मजबूरी बन जाती है। स्मृति का काम डायरी से लिया जाता है। यह सिर्फ पश्चिम में ही नहीं, हमारे देश के साक्षर समाज में भी हो रहा है। यहाँ भी तो आधुनिक है, वह स्मृतिहीन भी है। परम्परा अन्ततः स्मृति ही तो है। इसलिए जो आधुनिकता परम्परा से विच्छिन्न होने में अपनी अर्थवत्ता देखती है वह स्मृति से भी विलग हो जाती है।

लेकिन भारतीय समाज की स्मृति पश्चिमी समाज की तरह चुक नहीं गई है। लोकजीवन की सामुदायिकता अब भी बाकी है, इसलिए लोकस्मृति की ताजगी नागर जीवन की भागमभाग के बीच जब-तब प्रकट हो जाया करती है—खास तौर पर पर्व-त्यौंहार मनाने या रीति-रिवाज का पालन करने में इसे अनुभव किया जा सकता है। लोकाचार और वाचिक परम्परा के बीच अटूट रिश्ता है। शहरी जीवन में भी विवाह, जन्मोत्सव आदि के अवसर पर लोकगीत गाए जाते हैं, यद्यपि यह परिपाटी शिथिल होती जा रही है।

भारतीय जनजीवन में वाचिक परम्परा की प्रबल उपस्थिति को रेखांकित करते हुए डॉ. प्रेमलता शर्मा ने उदाहरण के तौर पर रसोई और पाक-विद्या को प्रस्तुत किया है। हमारे यहाँ 'देखो,करो और सीखो' की पद्धति से पाक-कला की अनौपचारिक शिक्षा दी जाती है। गृहिणियां भोजन पकाती है। उन्हें देखकर उनकी बेटियां अपने-आप सीख जाती है। यह अनायास शिक्षा 'श्रुति' और 'स्मृति' अर्थात् अनुभव और सृजन की एकात्मकता के द्वारा विलक्षण ढंग से सम्भव होती है। प्रत्येक रसोई मानो पाठशाला है; प्रत्येक रसोई का पाठ्यक्रम भिन्न-भिन्न है, स्वाद भिन्न-भिन्न है। यह अत्यन्त सहज शिक्षा है जो सीखने के आनन्द को इतनी सादगी से सिरजती है कि सीखना अलग से ज्ञापित नहीं होता, लेकिन आनन्द भीतर-ही-भीतर सिपचता रहता है। रसोई की सृजनात्मकता स्वाद की बहुलता में है। एक ही पकवान के सैंकड़ों

स्वाद आखिर किस देश की पाक-परम्परा में मिलेंगे? रसोई में बेटियां अपनी माताओं को भूनते, छौंकते, बधारते और सम्यक मात्रा में मसाले डालते देख कर ही तो सीखती हैं। महत्वपूर्ण यह है कि मसाला-नमक की सम्यक मात्रा अनुमान से डाली जाती है, तौल पर नहीं। भारत के किसी भी रसोईघर में तराजू नहीं मिलेगा। मात्रा का यह सटीक अनुमान होता कैसे है? पश्चिम के लोगों को यह चमत्कार लग सकता है कि भारतीय व्यंजनों के अद्‌भुत स्वाद का सृजन महज अनुमान के जरिए होता है जबकि पश्चिम में रेसिपी का सही स्वाद नाप-तौल कर डाले गए इनग्रेंडिएंट की सटीक मात्रा पर निर्भर है। पश्चिमी रसोइए रेसिपी पढ़कर व्यंजन बनाते हैं। वहाँ श्रुति और स्मृति की एकता टूट चुकी है। श्रुति या अनुभव का संवहन स्मृति के द्वारा नहीं लिखित-मुद्रित शब्द के जरिए होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो पश्चिम में लिखित-मुद्रित शब्द ने स्मृति का स्थान ले लिया है।

साक्षर समाज और वाचिक परम्परा

हमारे देश में आधुनिक चेतना और साक्षरता का प्रसार होने के साथ लिखित-मुद्रित शब्द का प्रभाव-क्षेत्र भी बढ रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि साक्षर समाज धीरे-धीरे वाचिक परम्परा से विलगाव की प्रक्रिया में है। वाचिक परम्परा को जिस समाज से पोषण प्राप्त होता है, वह भी अपनी स्वायत्तता खो चुका है। मूलतः यह कृषि-संस्कृति हैं जिसके भीतर नव-औपनिवेशिक शक्तियां सेंध लगा चुकी है। नए संचार-माध्यमों ने मनोरंजन के नए साधनों के जरिए एक ऐसी चकाचौंध-भरी तात्कालिक उत्पन्न कर दी है कि ग्रामीण इलाकों में सामुदायिक जीवन का ताना-बाना बिखरने लगा है और लोक-स्मृति धीरे-धीरे छीजने लगी है। श्रम से संस्कृति का सम्बन्ध दरकने लगा है। श्रम की संस्कृति की जगह अवकाश (फुर्सत) की संस्कृति का फैलाव हो रहा है। गांवों में किसान मेहनत करते हुए गीत नहीं गाता; वह रेडियो पर उन्हीं गीतों को फुर्सत के वक्त सुनता है। जीवन-कर्म से सांस्कृतिक कर्म के विलगाव का इससे बेहतर उदाहरण और क्या हो सकता है? परिणाम यह है कि लोकस्मृति शिथिल हो रही है। लोग अपने लोकगीतों को भूलने लगे हैं।

श्रुति से स्मृति को अर्थात् अनुभव से परम्परा को ऊर्जा प्राप्त होती है। लोकजीवन में श्रम की सामुदायिकता का क्षरण होने तथा श्रम के आनन्द को निजी अनुभूति में रूपान्तरित करने में विफल होने के कारण लोकस्मृति को समुचित प्राणवायु नहीं मिल पा रही है। कर्म-सौन्दर्य की अनदेखी हो रही है। इसलिए मेहनत के साथ गीत गाने वाला किसान अपनी सौन्दर्य-पिपासा की तृप्ति के लिए नए सांस्कृतिक उत्पादों के पास जाता है, जिन्हें नव-औपनिवेशिक ताकतें उसे सहज ही मुहैया कराए दे रही है। वीडियो कैसेट, सी.डी., टी.वी. कार्यक्रम आदि रूपों में लोक-सर्जना उसे अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुडे रहने की आश्वस्ति देती है। लेकिन